साम्राज्य के एक छोर पर...
एक लड़ाई, एक शहीद

● सी. एन. सुब्रह्मण्यम

युद्ध या किसी लड़ाई में शहीद होने वालों की याद में पत्थर गाड़ना अपने देश की एक पुरानी परंपरा है। अक्सर इन पत्थरों पर उस वीर पुरुष का नाम और उसके आखिरी युद्ध का विवरण खुदा होता है।

आमतौर पर यह वीर पुरुष किसी गांव का होता था और गांव वाले ही उसके सम्मान में यह यादगार खड़ी करते थे। ऐसे सैकड़ों पत्थर पूरे देश में बिखरे पड़े हैं, खासकर राजस्थान, महाराष्ट्र, कर्नाटक और तमिलनाडु में।

इन बिखरे हुए पत्थरों से इतिहास की जो झलक मिलती है वह सम्राटों के शिलालेखों से मिलने वाली जानकारी से कुछ अलग ही है। इस लेख में चलिए ऐसी ही एक झलक प्राप्त करें।

यह पटल उत्तरी तमिलनाडु के उत्तरी आर्काट ज़िले के एक गांव ताळैयूत्तु से मिला है। इसी गांव से तीन और ऐसे पत्थर मिले हैं जिनके बारे में हम आगे पढ़ेंगे।

इस चित्र का गौर से अवलोकन करें - इस पर एक वीर पुरुष का चित्र खुदा हुआ है। उसके एक हाथ में धनुष है और दूसरे में कटार, कमर पर भी एक कटार बंधी है। पांच बाण उसके सीने व जांघ को चीरते हुए निकले हैं। ऊपर दो लोग उस पर वार करते हुए दिख रहे हैं। उसके पांव के पास चार-पांच गायें दिख रही हैं।

इस चित्र के ऊपर व नीचे तमिल भाषा में यह संदेश खुदा हुआ है:

तमिलनाडु के उत्तरी आर्काट जिले के एक गांव से मिला यादगार पत्थर

"राजा विजय नन्दिवर्मन के दूसरे वर्ष में वेणाडु के वेण्मरूकोट्टु के वेडर (शिकारी) जब ताळैयूर पर धावा बोलकर ढोरों को भगाकर ले जा रहे थे तो ताळैयूर के वण्णक्क कडैयनार उन ढोरों को बचाकर लाने में मारे गए।"

यह घटना तब घटी जब पल्लव वंश के राजा नन्दिवर्मन द्वितीय का शासन था। इसका शासन काल 731 ईसवी में शुरू हुआ, यानी कि यह घटना सन् 732 में घटी।

तो आज से 1263 वर्ष पहले मरने वाले हमारे वीर शहीद किसी साम्राज्य को स्थापित या विस्थापित करने वाले युद्ध में नहीं मारे गए। वे एक गांव के ढोरों की रक्षा में मारे गए। उनकी मुठभेड़ किसी दूसरे देश या साम्राज्य के शत्रु से नहीं बल्कि अपने पास के जंगल के शिकारी बस्ती के लोगों से हुई। जब नन्दिवर्मन अपने साम्राज्य विस्तार के लिए लड़ रहा था तब उसकी प्रजा ढोरों को जीतने या बचाने में लगी थी। इतिहास की पुस्तकों में नन्दिवर्मन के युद्धों के लम्बे वर्णन मिलेंगे, लेकिन हमारे वीर वण्णक्क कडैयनार को पूछने वाला कोई नहीं। श्रीमान वण्णक्क कडैयनार ने अपनी जान की बाज़ी क्यों लगाई, और उनके गांव वालों को उनकी कुर्बानी इतनी महत्वपूर्ण क्यों लगी होगी - चलिए ज़रा सोचें व समझें।

ताळैयूर कहां पर है?

तमिलनाडु में पूर्वी तटीय मैदान जहां खत्म होता है और पूर्वी घाट शुरू होते हैं, ऐसे इलाके में ताळैयूर बसा है। यहां बारिश काफी कम होती है और इस इलाके में कंटीली झाड़ियां तथा पतझड़ वाले जंगल हैं। ऐसे इलाके में न अच्छी खेती हो सकती है और न केवल जंगल के सहारे गुज़ारा हो सकता है। कुल मिलाकर यह एक तरह से सीमांत इलाका है - जहां थोड़ी खेती, थोड़ा पशुपालन और थोड़ा शिकार सब साथ-साथ होता था। एकाध साल बारिश कम हुई या बिल्कुल ही नहीं हुई तो खुदा जाने क्या होता होगा।

1300 साल पहले

ऐसे क्षेत्र में जो लोग 1300 वर्ष पहले रहते थे और पशु पालते थे उनकी कल्पना कीजिए। उनके लिए अपने ढोर कितने कीमती रहते होंगे। अपने ढोरों को बचाना उनके लिए कितना ज़रूरी होता होगा।

उपरोक्त शिलालेख से यह तो स्पष्ट होता है कि उन दिनों वहां कुछ बस्तियां ऐसी थीं जहां लोग पशुपालन करते थे, कुछ ऐसी बस्तियां भी थीं जिनके निवासी शिकार करते थे। इस घटना में शिकारी बस्ती के लोगों ने पशुपालकों के ढोर चुराने का प्रयास किया। इस घटना से ऐसा मालूम पड़ता है कि दोनों बस्तियों के बीच तनावपूर्ण संबंध थे। पशुपालकों से शिकारियों को क्या शिकायतें थीं, यह तो हमें पता नहीं - लेकिन शिकायतें ज़रूर रही होंगी।

इस शिलालेख के आधार पर आप यह न समझ बैठें कि ताळैयूर के लोग केवल हमलों का मुकाबला करते थे। वे खुद भी दूसरों पर हमला करके उनके जानवरों को भगाकर लाते थे। इस घटना के कुछ वर्ष पूर्व का एक और यादगार पत्थर मिला है जिसमें एक ऐसे शहीद का ज़िक्र है जो दूसरे गांव पर धावा बोलकर भेड़ों को भगाकर लाने के प्रयास में मारा गया।

इन घटनाओं के एक शताब्दी बीतने पर चोल साम्राज्य की स्थापना हुई। अपना ताळैयूर अब एक ऐसे विशाल साम्राज्य का भाग बना जो श्रीलंका से मैसूर तक फैला था। चोलों का मंदिर निर्माण, मूर्तिकला, आदि विश्व प्रसिद्ध हैं। चोलों के अधीन भी अपने ताळैयूर के निवासी अपनी पुरानी समस्याओं से जूझते रहे। 930 ईसवी का एक और यादगार पत्थर है, जिसमें एक बाप और उसके बेटे की शहादत का ज़िक्र है। ये दोनों कल्लर नाम के कबीलों से अपनी गाय को बचा रहे थे।

सुदूर राजस्थान में

मैं आपको अब तमिलनाडु से बहुत दूर राजस्थान के भरतपुर ज़िले में ले जाना चाहता हूं। वहां बयाना नाम के शहर में एक यादगार पत्थर मिला है। ऐसे पत्थरों को राजस्थान में पालिया या देवली कहते हैं। बयाना की इस देवली में ऊपर की ओर चार-पांच गायों को हांकने वाले का चित्रण है। उसके नीचे एक

शिलालेख है जिससे पता चलता है कि श्री नन्न के राज्यकाल में पिंपल-गौंडल नामक जगह पर दुर्गादित्य अपने ढोरों को चोरों से बचाते हुए मारा गया ।

यह अनुमान लगाया गया है कि यह आलेख लगभग 750 ईसवी का है। राजस्थान के रेगिस्तानी भाग, जैसलमेर ज़िले से भी हमें दर्जनों ऐसी देवलियां मिलती हैं।

यह सोचकर काफी आश्चर्य होता है कि दो हज़ार किलोमीटर के फासले के बाद भी कुछ एक-सी सांस्कृतिक परंपराएं पाई जाती हैं। गांव के लोग पशुधन बचाते थे। उनको बचाने के लिए लड़ते हुए जो शहीद हुए उनकी याद में इतने समरूप स्तंभों की स्थापना! आज से 1500 साल पहले जब यातायात के साधन विकसित नहीं थे, राजस्थान से तमिलनाडु पहुंचने में महीनों, क्या सालों लग जाते होंगे। जब इतनी दूर सामान्य लोग शायद यात्रा नहीं करते थे, तो एक ऐसी परंपरा कैसे फैली होगी?

इस प्रश्न का हम कोई निश्चित उत्तर नहीं दे सकते। लेकिन इन परंपराओं की पृष्ठभूमि की जांच करें तो मामले पर कुछ धुंधली-सी रोशनी पड़ेगी।

खाज इतिहास की

पुरातात्विक खोजों से पता चलता है कि भारतीय उपमहाद्वीप में खेती के साथ-

ताळैयूत्तु के पास एक और गांव से मिला यादगार पत्थर। इसमें वीर पुरुष के साथ साथ उसके कुत्ते की शहादत का भी चित्रण है

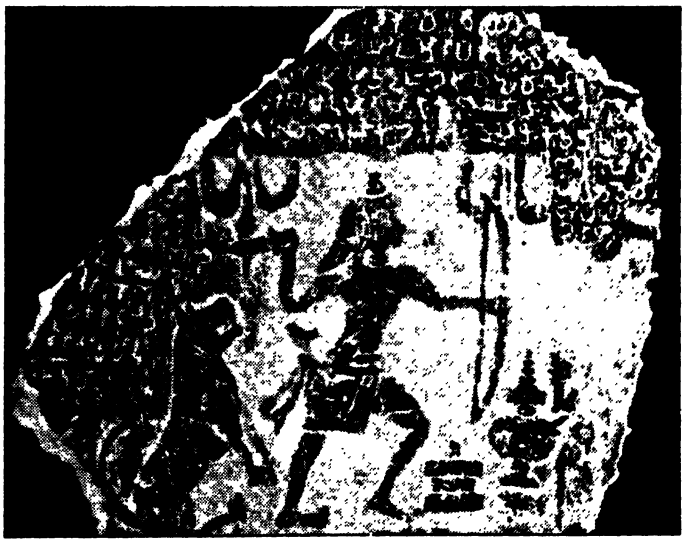

साथ पशुपालन भी प्रागैतिहासिक काल से ही शुरू हो गया था। कर्नाटक-आंध्र प्रदेश से लेकर बलूचिस्तान तक ऐसे समाजों के अवशेष मिले हैं जो घुमक्कड़ पशुपालक थे - कहीं गाय-बैल चराते तो कहीं भेड़-ऊंट। पुरातात्विक सामग्री से इनके अस्तित्व की तो पुष्टि होती है लेकिन इनके जीवन व संस्कृति के बारे में बहुत कम जानकारी मिलती है। इन बातों के बारे में पता करने के लिए हमें पशुपालकों के साहित्य से मदद मिल सकती है। लेकिन दुर्भाग्य से हमें अभी तक बलूचिस्तान, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र या कर्नाटक के पशुपालक समाजों के साहित्य नहीं मिले हैं। पशुपालकों का सबसे पुराना साहित्य जो हमारे पास उपलब्ध है वह ऋग्वेद है। ऋग्वेद आज से 3500 साल पहले उत्तर-पश्चिमी भारतीय उपमहाद्वीप में रचा गया था। ऋग्वेद संस्कृत भाषा बोलने वाले पशुपालक आर्य कबीलों की रचना है। इसमें हमें विकसित पशुपालक समाज की झलक मिलती है, जिससे उन दिनों के अन्य पशुपालकों के बारे में अनुमान लगाने में मदद मिलती है।

प्राचीन समय के पशुपालकों के जीवन को समझने के लिए हमें कई तरीके अपनाने पड़ते हैं - पुरातात्विक सामग्री से मिले कुछ प्रमाण, ऋग्वेद जैसे ग्रंथों से मिली झलक और जो पशुपालक समाज आज भी बचे हैं, उनका अध्ययन। इन तीन तरह के स्रोतों को मिलाकर देखना पड़ता है।

बहरहाल ऋग्वेद और वर्तमान पशुपालक समाजों के अध्ययन से यह तो स्पष्ट होता है कि पशुपालक कबीलों के बीच एक-दूसरे के पशुओं पर कब्जा पाने के लिए लगातार लड़ाई चलती रहती थी। यह उनके लिए उतना ही स्वाभाविक था जितना कि खेतिहर समाजों के लिए एक-दूसरे की ज़मीन पर कब्जा करने या लगान वसूली के लिए लड़ना।

जिन लोगों ने महाभारत की कथा सुनी या पढ़ी होगी उन्हें ध्यान होगा कि पांडवों के अज्ञातवास के अंत में कौरवों और विराट राज्य के बीच लड़ाई छिड़ी थी। कौरव पांडवों की खोज में थे, उनको शक था कि वे विराट राज्य में छिपे हैं। विराट पर हमला करने के लिए कौरवों को बहाना चाहिए था - बहाना था, गाय भगाकर लाने की ज़रूरत। उन्होंने कहा हमें गायों की ज़रूरत है, इसलिए हम विराट राज्य पर हमला करेंगे।

गाय के लिए लड़े गए युद्ध को गवेष्ठी या गोष्ठी कहते थे। (हां, गोष्ठी शब्द इसी से निकला है!) ऋग्वेद में हमें इसके अनगिनत वर्णन मिलते हैं। लेकिन जहां तक मुझे ख्याल है वेदों में कहीं भी ऐसे युद्ध में मारे गए वीरों की याद में स्तंभ गाड़ने की प्रथा का ज़िक्र नहीं है। शायद ऐसी परंपरा आर्यों में नहीं थी।

एक पत्थर, शहीदों के नाम

वीरों की याद में पत्थर गाड़ने का ज़िक्र हमें एक बिल्कुल ही अलग साहित्य से मिलता है, प्राचीन तमिल संगम-साहित्य में। संगम-साहित्य का रचना काल ई.पू. दूसरी शताब्दी से दूसरी शताब्दी ईसवी तक माना जाता है। इसका क्षेत्र

वर्तमान तमिलनाडु, केरल और दक्षिणी कर्नाटक था। यह साहित्य भारत की किसी अनार्य भाषा का सबसे प्राचीन साहित्य है।

संगम-साहित्य में भी दूसरे कबीले के पशुधन लूटने का वर्णन है। इसे तमिल में वेट्चि या दोरू कहते थे। ऐसे युद्धों में मारे गए वीरों के लिए लंबे पत्थर गाड़कर उनकी पूजा की जाती थी। ऐसे पत्थरों को 'नडुकल' या केवल 'कल' कहा जाता था (नडु = गाड़ना, कल = पत्थर)। हालांकि हमें संगम काल के नडुकल कहीं भी गड़े हुए नहीं मिले हैं।

संगम-साहित्य में जगह-जगह नडुकल का ज़िक्र है और उनकी स्थापना व आराधना का वर्णन है। युद्धों व वीरों के संदर्भ में हमेशा नडुकल की चर्चा होती है। कहीं एक बेटी बड़े फख्र के साथ कहती है कि मेरे पिता और पति दोनों पत्थर के रूप में पूजे जाते हैं, कहीं बताया जाता है कि नडुकल में वीरों का चित्रण देखकर हाथी उन्हें सचमुच के वीर मानकर उन पर वार करते हैं।

इन वर्णनों से यह पता चलता है कि किसी वीर के युद्ध में मरने के बाद, किसी शुभ दिन पहाड़ पर जाकर शिला का चुनाव किया जाता था। उस शिला का पूजन करके उसे उठाकर गांव की सड़क के किनारे या किसी पेड़ के नीचे लेकर आते थे। वहां पर पानी से नहलाने के बाद उसकी स्थापना होती थी। स्थापना के बाद उस शिला पर वीर का चित्र खोदा जाता था और उसका नाम, शहादत का विवरण आदि उसपर खुदवाया जाता था। फिर उसका पूजन होता था।

एक बार स्थापना हो जाने के बाद आसपास के गांव के लोग समय-समय पर उस स्थल पर आकर, उस पत्थर की पूजा करते थे और भोग चढ़ाते थे। कहीं-कहीं उन पर मंदिर बनाने का ज़िक्र भी है।

ऐसे भी होते हैं शहीद

इन सब बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वीरों की याद में पत्थर गाड़ने की प्रथा दक्षिण भारत से शुरू होकर फैलते-फैलते राजस्थान के रेगिस्तान तक पहुंची। इसे फैलाने में शायद पशुपालकों का विशेष योगदान रहा होगा। आखिर वे घुमक्कड़ थे और लगातार एक दूसरे के संपर्क में आते रहते थे।

वीर और शहीद किसे माना जाए इसे हर समाज अपने तरीके से परिभाषित करता था। यादगार पत्थर कुछ हद तक हमें बताते हैं कि आज से 1500 साल पहले गांव बस्ती के आम लोग वीर और शहीद किसे मानते थे। आमतौर पर लोगों ने गांव के पशुधन को चोरों से बचाने वाले और दूसरे गांव के पशु चुराकर लाने वाले दोनों को वीर माना। ऐसे संघर्षों में मरने वाले को शहीद माना। कहीं शेर या चीते से लड़कर अपनी जान गंवाने वाले पुरुष को वीर माना गया। अक्सर ऐसे पुरुष के साथ मारे गए उसके वफादार कुत्ते के लिए भी यादगार पत्थर स्थापित किए गए। और तो और एक जगह लड़ाई में मारे गए लड़ाकू मुर्गे के लिए भी पत्थर गाड़ा गया।

सी. एन. सुब्रह्मण्यम - एकलव्य के सामाजिक अध्ययन कार्यक्रम से संबद्ध

एक मुर्गे की याद में

कई साल पहले, लगभग 1977 में, मुझे एक सेमिनार में प्रस्तुत लेखों को पढ़नें का मौका मिला। यह सेमिनार अपने आप में काफी दिलचस्प था। इसमें पूरे तमिलनाडु से शिक्षक और अन्य सामान्य लोग जो स्थानीय इतिहास में रुचि रखते थे, आमंत्रित थे। उनसे केवल यही अपेक्षा थी कि वे अपने-अपने गांव या कस्बे या आसपास के इतिहास के बारे में कोई नई जानकारी प्रस्तुत करें। इनमें से एक था, श्री तामरैकण्णन का लेख। वे एक छोटे से गांव की शाला में तमिल पढ़ाते थे। श्री तामरैकण्णन एक दिन एक पड़ोसी गांव में हो रही किसी पूजा को देखने गए। वहां एक तिगड्डे पर एक शिला-फलक के चारों ओर शामियाना लगा था और उसके नीचे एक देवी को स्थापित किया गया था। पूजन के बाद शाम को देवी को पास के तालाब में विसर्जित किया जाता था।

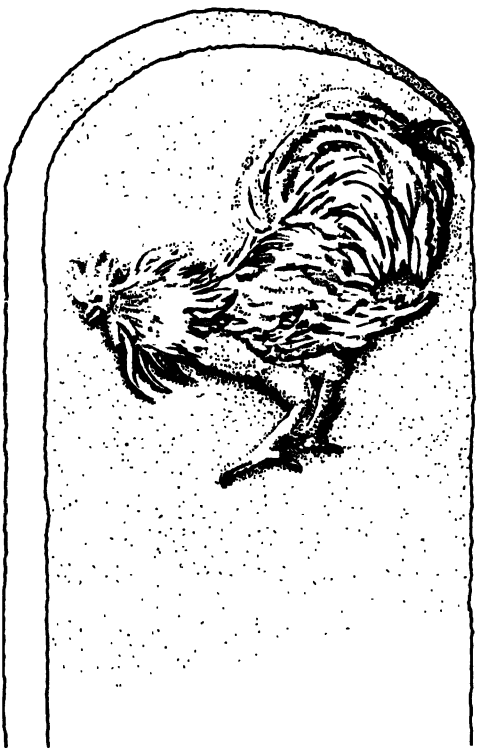

तामरैकण्णन ने शिला-फलक को गौर से देखा तो पाया कि उसमें मुर्गे का सुंदर और काफी प्रभावशाली चित्रण है और साथ ही कुछ लिखा हुआ भी है। लिपि वे पढ़ नहीं पाए क्योंकि वह कोई अप्रचलित प्राचीन लिपि थी।

– वे लिखते हैं:

"दुबला लेकिन कसा हुआ शरीर,

ऊंची कलगी और घनी पूंछ उसकी शक्ति को दर्शा रहे थे। मज़बूत टांगें सटाकर ज़मीन पर जमकर खड़ा होना, अपने पंखों को अपने शरीर से चिपकाकर रखना, ऊंची गर्दन, तीव्र दृष्टि, इन सबसे ज़ाहिर होता है कि यह मुर्गा अपने प्रतिद्वन्दी मुर्गे को ध्वस्त करके जीत के तेवर में खड़ा है। इस मुर्गे की चोंच से कई छोटे-छोटे पंख गिरते हुए दिखाए गए हैं। ज़ाहिर है कि ये सब उस प्रतिद्वन्दी मुर्गे के पंख रहे होंगे।''

उन्होंने मद्रास में पुरातत्व विभाग से संपर्क किया और उनकी मदद से पता किया कि यह लिपि पल्लव काल में उपयोग की जाती थी। उसमें लिखा था,

''कीळैच्चेरी का मुर्गा खूब लड़ा''

हमें यह पता नहीं है कि यह किस राजा का काल था, हमें यह भी नहीं पता कि इस मुर्गे का मालिक कौन था, लेकिन किसी प्राचीन मुर्गे का शौर्य, उसके प्रति उसके मालिक का प्रेम, और उन लोगों की रसिकता - ये सभी इसमें झलकते हैं। हम कल्पना कर सकते हैं, 1500 साल पहले किसी मेले में मुर्गों को लड़वाने के खेल का ऐलान होता है। दूर-दूर के गांव से लड़ाकू मुर्गे मैदान में उतारे गए हैं। हर गांव के लोग यही सोच रहे हैं कि हमारा मुर्गा जीत जाए, हमारे गांव की शान बढ़ जाए। छंटते-छंटते दो मुर्गे बचते हैं - दोनों अब तक कई लड़ाईयां लड़कर थक चुके हैं, फिर भी एक और प्रतिद्वन्द्वी को देखकर एक बार फिर आक्रमण के लिए तैयार हो जाते हैं। घमासान लड़ाई, पूरे मेले के लोग इन दो मुर्गों को उकसा रहे हैं, लड़-लड़कर अंत में एक मुर्गा हारकर खतम हो जाता है। जीतने वाले मुर्गे की हालत बहुत बेहतर नहीं है - कुछ देर बाद वह भी मरकर गिर जाता है।

भले ही वह मर गया हो, उसके गांव के लोग तो जीत गए! उनकी खुशी और साथ-साथ मुर्गे के मरने पर उनका दुख, दोनों ही इस अनोखे शिला-फलक में नज़र आते हैं।

एक इतिहासकार यह बताने की कोशिश नहीं कर सकता है कि क्या सही और/या क्या गलत है। पक्षियों या जानवरों को अपने मनोरंजन या 'इज़्ज़त' के लिए लड़वाना और उनकी मारकाट से मज़ा लेना कहां तक उचित है या नहीं - यह तो आप ही तय करें। यहां मेरा उद्देश्य महज़ यह बताना था कि इतिहास में राजा रानियों के अलावा मुर्गे व मुर्गों के मालिक भी थे, जिन्हें अपने मुर्गों पर नाज़ था। क्या इस मानसिकता का इतिहास भी लिखा जा सकता है?

● सी. एन. सुब्रह्मण्यम